जाने-माने लातिन अमेरिकी लेखक एदुअर्दो गालेआनो का यह असाधारण लेख बेचैन कर देने वाले अंदाज में लेखकों से यह बुनियादी सवाल पूछता है कि हम किसके लिये लिख रहे हैं? अपनी पक्षधरता को जांचने और प्रतिरोध की आवाज बन जाने का आह्वान करता हुआ गालेआनो का यह ओजस्वी वक्तव्य भारतीय लेखकों के लिये बेहद प्रासंगिक एवं आंखें खोल देने वाला है। इस अद्भुत लेख का अनुवाद किया है जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के स्पैनिश भाषा-साहित्य के शोधार्थी पी. कुमार मंगलम ने।

Ed. - DebateOnline

लिखना मौत से लड़ने जैसा है

- एदुअर्दो गालेआनो

जब भी कोई लिखता है तो वह औरों के साथ कुछ बांटने की जरुरत ही पूरी कर रहा होता है. यह लिखना अत्याचार के खिलाफ और अन्याय पर जीत के सुखद अहसास को साझा करने के लिये ही होता है. यह अपने और दूसरों के अकेले पड़ जाने के अहसास को खत्म करने के लिये होता है. यह माना जाता है कि साहित्य ज्ञान और समझ को फैलाने का जरिया है और यह पढ़ने वालों की भाषा और आचरण पर असर डालता है. लेकिन 'बाकी लोगों' और 'दूसरों' जैसे शब्द बड़े ही भ्रामक हैं, खासकर संकट के समय जब सही और गलत की पहचान जरूरी हो जाती है तब तो ऐसे भ्रामक शब्द झूठे भी हो सकते हैं. दरअसल, लिखा उन्ही के लिये जाता है जिनके नसीब या बदनसीबी के साथ जुड़ाव महसूस किया जाता है. ये वो लोग हैं जो न ढंग का खा सकते हैं न सो सकते हैं, वे इस दुनिया के सबसे दबे-कुचले, अपमानित और इसलिये सबसे भयंकर विद्रोही लोग हैं.

इनमें से ज्यादातर पढ़ना नही जानते हैं. थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों में से कितनों के पास इतना पैसा है कि वो किताबें खरीद सके? तब कोई भी क्या सिर्फ यह कह कर कि वो 'आम लोगों' (जो अभी के दौर में एक भ्रामक लेकिन बहुत प्रचलित रहने वाला शब्द है) के लिये लिख रहा है, इस भयंकर सच्चाई से मुंह मोड़ सकता है ?

हम किसी चांद पर नही रहते और न ही हमारी दुनिया इस दुनिया से बाहर की कोइ जगह है. ये शायद हमारी खुशनसीबी और बदनसीबी दोनों ही है कि हम दुनिया के सबसे ज्यादा उथल-पुथल से भरे क्षेत्र लातिन अमेरिका में रह रहे हैं और वो भी इतिहास के सबसे कठिन दौर में. वर्गो में बांट दिये गये समाज की विसंगतियां धनी और औद्योगिक देशों के मुकबले यहां कहीं ज्यादा तीखी हैं. यह पूरी व्यवस्था ही ऐसी है जहां आबादी का सिर्फ छह फिसदी हिस्सा पूरी दुनिया की कमाई का आधा हिस्सा यूं ही गटक जाता है. इस हिस्से की अमीरी की कीमत बाकी दुनिया भयानक गरीबी में जीकर चुकाती है. चन्द अमीरों और बाकी सारे गरीब बना दिये गये लोगों के बीच की खाई लातिन अमेरिकी देशों में लगातार बढ़ ही रही है और इसे बनाने और बरकरार रखने के सबसे बर्बर उपाय भी यहीं अपनाये जा रहे हैं.

खेती और खनिज पर आधारित समाज की तमाम बुराइयों और समस्यायों को दूर किये बिना ही यहां बहुत ही सीमित क्षमता वाले और हमेशा विदेशी सहायता पर निर्भर उद्योग खड़े कर दिये गये हैं जिससे ये समस्यायें कम होने के बजाये बढ़ी ही हैं. जनता को अपने वादों से लुभाने और भरमाने में कुशल पारंपरिक नेता भी इस कड़वी सच्चाई को नही छिपा पा रहे हैं. जनता के नाम पर कुछ भी करने की दुहाई देने वाला पुराना राजनीतिक खेल भी लगातार बढ़ रही सामाजिक असमानता को ढकने-छुपाने के बजाय उसे बढ़ाये ही दे रहा है. हमारी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में प्रभुता संपन्न वर्ग और देश अपनी धमक शोषण और ताकत से ही कायम रखते हैं वर्ना लगातार एक यातना शिविर की तरह लगने वाली यह सामाजिक व्यवस्था कैसे टिकी रह सकती थी ? व्यवस्था के शिकार बने अनगिनत 'बेकार' और सम्भावित विद्रोही (और इसलिये खतरनाक) लोगों को काबू में रखने का और उपाय भी क्या है सत्ता के पास? वैसे भी हर जगह कटीले बाड़ लगाना सम्भव नही रह गया है. बेरोजगारी, गरीबी और इससे पैदा हो रहे सामाजिक और राजनीतिक तनावों वाले दौर में 'सभ्य जीवन जीने' और 'अच्छा व्यवहार' करने की खुशफहमी भी खत्म होती जा रही है. आज की व्यवस्था का असली चेहरा अपने क्रूरतम रूप में दुनिया के गरीब और पिछड़े बना दिये गये इलाको में ही दिखता है.

लातिन अमेरिका के ज्यादातर देशो में काम कर रही तानाशाहियां (यहां तानाशाही से मतलब सैन्य सरकारों के साथ-साथ जनतन्त्र और चुनाव का नारा देकर जनता को लूटने-ठगने वाली सरकारों से भी है) जनता का शोषण बड़ी ही सफाई और पेशेवर चालाकी से करती हैं. संकट के इस दौर में बड़े पूंजीपतियों के लिये व्यापार की छूट असल में बाकी गरीब जनता के लिये जेल की राह है.

लातिन अमेरिकी देशों के वैज्ञानिक दूसरे देशों में काम कर रहे हैं, यहां की प्रयोगशालाओं और विश्वविद्यालयों के पास पैसा नही है और तकनीकी ज्ञान हमेशा ही बाहर से महंगे दामों पर लिया जाता रहा है. इस सबके बीच डर और आतंक पैदा करने के सभी उपायों में महारत हासिल कर ली गयी है. आज

का लातिन अमेरिका दुनिया भर में सजा देने, लोगों और विचारों की हत्या करने, उन्हें खामोश, डरपोक और कायर बना देने की नित नई तकनीकों का गुरु बन बैठा है. (यह बात 70-80 के दशक की है जब लातिन अमेरिका के ज्यादातर देशों में सैन्य तानाशाहियां थी. वैसे भारत के सन्दर्भ में, जहां 60 से भी अधिक सालों से 'लोकतन्त्र' और 'चुनाव' कायम रखने की सारी कवायदों के बीच आफ्स्पा (AFSPA), उआपा (UAPA) और 'ग्रीन हंट' के सरकारी खौफ का दायरा बढ़ता ही जा रहा है, यह बात बहुत मौजूं है.)

सवाल यह है कि हम जैसे लोग जो बेआवाज लोगों की आवाज बनना चाहते हैं वे इस भयानक माहौल में कैसे काम करें? जब डंडे और बाजार के जोर से सबको गूंगा-बहरा बनाया जा रहा है तब क्या हम अपनी बात सुना सकते हैं? आज के हमारे लोकतन्त्र दरअसल चुप्पी और डर पैदा करने वाले लोकतन्त्र हैं. ऐसे में लेखकों के लिये जो भी थोड़ी सी जगह बची है क्या वह इनके व्यवस्था के आगे समर्पण और इसलिये इनकी हार का सबूत नहीं है? हमारी लेखकीय आजादी की सीमा क्या है और हम इससे किन लोगों को फायदा पहुंचा रहें हैं?

न्याय और आजादी के लिये और भूख तथा खुले और प्रत्यक्ष-परोक्ष दमन करने वाली व्यवस्था के खिलाफ बात करना और लिखना है तो बहुत अच्छा लेकिन सत्ता हमें यह छूट किस हद तक और कब तक देती है? ऐसे और भी कई सवाल हैं.

व्यवस्था के लिये सवाल खड़े करने वाले समाचारपत्रों और पत्रिकाओं पर पाबन्दी, लेखकों और पत्रकारों को देश-निकाला, जेल और मौत दिये जाने में सीधे-सीधे दिखने वाले दमन की बात तो बहुत होती है. लेकिन दमन के और भी कई रास्ते हैं जो परोक्ष होने की वजह से ज्यादा घातक साबित होते हैं. वैसे तो इनकी बात बहुत कम की जाती है लेकिन हकीकत में लातिन अमेरिका के ज्यादातर देशों में हावी बर्बर और गैरबराबरी बढ़ाने वाली व्यवस्था की यही पहचान बन चुकी है. तो यह न दिखने वाला दमन काम कैसे करता है? दरअसल, ऐसी स्थिति ही नही आने दी जाती है कि कोई व्यवस्था के अन्याय को जाने और उसका विरोध करे. मिसाल के लिये, अगर लातिन अमेरिका की आबादी का सिर्फ पांच फिसदी हिस्सा ही फ्रिज खरीद सकता है. ऐसे में, किताबें खरीदने, उन्हें पढ़ने, उनकी जरुरत महसूस करने और उनसे प्रभावित हो सकने वाले लोग कितने होंगे?

लातिन अमेरिकी लेखक एक संस्कृति उद्योग के दिहाड़ी मजदूर हैं जो भद्र अभिजात वर्ग की उपभोक्तावादी जरूरतों को पूरा करते हैं, वे खुद इसी तबके से आते हैं और इसी के लिये लिखते हैं. यही लेखकों की नियति है कि उनका लिखना ले-देकर सामाजिक गैरबराबरी कायम रखने वाली विचारधारा द्वारा तय सीमा के भीतर ही होता है. साथ ही, हम जैसे लेखक जो इन हदों को तोड़ना चाहते हैं उनका भी यही हाल है.

हम जैसे समाज में रह रहे हैं वहां आबादी के बड़े हिस्से की रचनात्मक क्षमताओं और संभावनाओं को लगातार खत्म किया जा रहा है. कुछ नया रचने-गढ़ने का काम जो जीने के दर्द को साझा करने और मौत से लड़ने के लिये जरूरी है अब चन्द पेशेवर 'विशेषज्ञों' या 'बुद्धिजीवियों' के भरोसे छोड़ दिया गया है. हम जैसे कितने ऐसे 'बुद्धिजीवी' लातिन अमेरिका में हैं? हम लिखते किनके लिये हैं और किनकी बात करते हैं? हमारा लिखा किन लोगों की आवाज बननी चाहिये? तालियों की गड़गड़ाहट और पुरस्कारों के सपने से आगे बढ़कर हमें ये सवाल खुद से पूछने होंगे. क्योंकि कभी-कभी हमारी तारीफ सबसे ज्यादा वही करते हैं जिन्हे हमारे लिखने से कोई खतरा नही महसूस होता.

दरअसल, लिखना कुछ-कुछ मौत से लड़ने जैसा है. यह लड़ाई है हमारे अंदर और बाहर फैली मुर्दा उदासी और बेरुखी के खिलाफ. लेकिन यह आने वाली पीढ़ियों के काम तभी आ सकता है जब यह अपनी पहचान के लिये संघर्षरत समुदाय की जरूरतों से खुद को जोड़ लेता है.

मेरी समझ में एक लेखक का मौत की तरह तारी होती उदासी से खुद को बचाना और अपने लिखे की ताकत पहचानना ही बाकियों को उनकी पहचान देता है. इस तरह, इन्सानियत की इस लड़ाई में कला और साहित्य हथियार लेकर चलने वाले अगुआ पंक्ति के सिपाही की तरह है, किसी राजा के आरामगाह की चीज नही. लेकिन, लातिन अमेरिका की एक बड़ी आबादी कला और संस्कृति पर अपनी हिस्सेदारी से वंचित रखी गयी है. हथियार के बल पर थोपी गयी बाहरी संस्कृति के हाथों अपनी पहचान हारने और अपने पसीने, खून और सपने की कीमत पर पूंजी और मुनाफा बनाती-बांटती व्यवस्था को जिंदा रखने वाले ऐसे ही लोगों के लिये 'मास कल्चर' का झुनझुना तैयार किया गया है. यह और कुछ नही बल्कि 'मास' के लिये 'कल्चर' के नाम पर लोगों के बोलने, विचारने, कुछ कहने और करने की भावनाओं को नियंत्रित करना ही है. जनता के लिये पेश यह 'मास कल्चर' सच देख सकने की हमारी क्षमता को ही कुंद करता है और बदले में हमें कुछ करने, बनाने, और नया रचने का झुठा अहसास भर देता है.

यह जाहिर है कि यह लुभावना 'मास कल्चर' हमें अपनी अस्मिता को पाने की दशा में आगे नही बढ़ाता, उल्टे अलग-अलग तरीके से हमें एक खास ढंग से जीने को बाध्य करता और खरीददार बनाता यह 'मास कल्चर' हमें इस लड़ाई से ही अनजान और उदासीन बना देता है. शासक वर्ग द्वारा विकसित देशों से सीधे-सीधे आयातित और 'वैश्वीकरण' और 'विश्व-सभ्यता' करार दिये गये बेचने-खरीदने और मुनाफा कमाने की संस्कृति को 'राष्ट्रीय संस्कृति' का नाम दे दिया गया है. हमारे दौर की यह तथाकथित 'विश्व सभ्यता' बाजार और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की खुली छूट और टी.वी. तथा अन्य संचार माध्यमों के फैलते जाल से चुनिंदा विकसित देशों के हित साधने वाली वैश्विक अर्थव्यवस्था के शिकंजे का पूरी दुनिया पर कसते जाने का ही दूसरा नाम है. यही चुनिंदा और दुनिया के मालिक बने बैठे देश लातिन अमेरिका को मशीनें, पेटेंट, और साथ ही इस पूरी व्यवस्था को चलाने के लिये कुछ मंत्र भी बेचते हैं जिसे वो 'विचारधारा' का नाम देते हैं.

अगर लातिन अमेरिका की हालत यह है कि सिर्फ कुछ ही लोग सुख-सुविधाओं के पहाड़ पर बैठे हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि बाकी सारे लोग नीचे रहकर उन्हें देखें और किसी दिन ऊपर पहुंच जाने का सपना देखते रहें. यहां गरीबों को अमीरी, गुलामों को आजादी, हारे हुओं को जीतने और जिनकी हड्डियां तक चूस ली गई हैं उन्हें दुनिया पर राज करने के सपने बेचे जाते हैं. गैरबराबरी पैदा करने वाली व्यवस्था को बनाये रखने की जरूरत का अहसास टी.वी, रेडियो और फिल्में कराती हैं जो दिन-रात सबके समझ में आ सकने वाले अंदाज में व्यवस्था का संदेश फैलाती रहती हैं. हर एक मिनट में बीमारी और भूख से एक बच्चे की हत्या करने वाली यह व्यवस्था हमें अपने हिसाब से ढाल लेने और इस अन्याय का हिस्सा बनाने के सभी उपाय करती है. हमें यह सिखाया जाता है कि दुनिया हमेशा से ऐसी ही रही है और सबकुछ ठीक चल रहा है. शासन करने वाला दल ही देश हो जाता है और विरोध की आवाज उठाने वालों को बड़ी ही आसानी से गद्दार या विदेशी जासूस करार दिया जाता है. 'जंगल के कानून' को 'कानून का राज' घोषित कर दिया जाता है ताकि लोग सबकुछ किस्मत का खेल मानकर चुपचाप बैठे और सहते रहें. सरकारी खिदमत करता तोड़ा-मरोड़ा हुआ इतिहास हमें यह नहीं बताता कि लातिन अमेरिका के पिछड़ेपन की असली वजहें क्या हैं जिसकी गरीबी ने हमेशा दूसरे देशों की तिजोरी भरने का ही काम किया है. रोज जब टी.वी और सिनेमा के पर्दे पर हारने वाले 'कमजोर' और हराने वाले 'मजबूत' बताये जाते हैं तब यह इतिहास में दर्ज कुछ देशों द्वारा दूसरे देशों को खोखला कर कमजोर बना देने के अनेकों 'बहादुर' और 'मजबूत' कारनामों को जायज ठहराने के लिये ही होता है. पैसे की बर्बादी, भद्दा प्रदर्शन और अच्छे-बुरे का खयाल न करते हुए सिर्फ अपना मतलब निकालना अब कोई बुरी बात नही बल्कि 'कामयाब' इन्सान की पहचान मानी जाती है. यहां सबकुछ खरीदा, बेचा, किराये पर लिया और खाया-पचाया जा सकता है. यहां

तक की आत्मा भी. आजकल सिगरेट, गाड़ी, शराब की बोतल, या घड़ी इन्सान को कुछ और होने तथा किसी और दुनिया में ही होने का जादुई अहसास देती हैं. इनके पास होने से ही इंसान को इंसान तथा जिंदगी को सुखी और सफल माना जाता है. विदेशी नायकों की भरमार धनी देशों से आए ब्रांडों और फैशन के लिये हमारी सनक का ही नतीजा है. टी.वी. और सिनेमा के पर्दे देशों की सामाजिक समस्याओं और जमीनी राजनितिक हालातों से कोसों दूर बनावटीपन और अश्लीलता की एक अलग ही दुनिया रचते हैं. पश्चिमी देशों से लाए गए टी.वी. कार्यक्रम यूरोप और अमेरिका छाप लोकतंत्र का पाठ पढ़ाते हैं और वो भी बंदूक और फास्ट फूड की जय-जयकार के साथ.

लातिन अमेरिकी देशों की आबादी का बड़ा हिस्सा काम की तलाश में भटक रहे नौजवानों का है जिनके गुस्से के किसी दिन फुट पड़ने का डर सरकार चला रहे लोगों की नींद उड़ाए हुए है. यहीं से इस संभावित आक्रोश को कुंद करने की सारी साजिशें शुरू हो जाती हैं. नशे की लत लगाकर युवाओं को उनके समाज से ही काट देना और कुछ कर गुजरने की इच्छा शक्ति खत्म कर देना लगातार किए जा रहे ऐसे कई उपायो में से एक है. इसलिए बेतहाशा बढ़ रही आबादी रोकने की बजाय यहां लोगों के सोचने-समझने की क्षमता ज्यादा कारगर तरीके से नियंत्रित की जाती है. इसके लिये व्यवस्था का सबसे पसंदीदा तरीका है ऐसा माहौल बना देना जहां कोइ कुछ सोच ही न सके. ध्यान से देखें तो लातिन अमेरिकी देशों की नई पीढी जिस तथाकथित 'प्रतिरोध की संस्कृति' को अपना रही है वो भी जाने-अनजाने व्यवस्था का ही मतलब साधती है.

पुरानी, बदलाव की घोर विरोधी और पुलिसिया दमन पर टिकी सरकारों वाले देशों में नई पीढ़ी का व्यवस्था में कोई दखल ही नही है. यही वो देश हैं जहां सिर्फ पैसे को पूजने वाली और रुढ़ियों का दिखावटी विरोध करने वाली बाहरी सोच ने खुद को 'प्रतिरोध की संस्कृति' घोषित कर रखा है.

सत्तर के दशक में यूरोप और अमेरिका की ठहरी और पुरानी पड़ चुकी व्यवस्थाओं के खिलाफ हुए युवा संघर्षों के नारे, उनके प्रतीक, उनका मिजाज और सपने अब बाजार के कब्जे में हैं. नया संसार उभारने वाली छवियां अब 'आजादी' के नारे के साथ बेची और खरीदी जाती हैं. इसी तरह, उनका संगीत, उनके पोस्टर, बाल बनाने और कपड़े पहनने का उनका खास अंदाज अब नशे की लत में सपने ढूंढने वाली पीढ़ी और 'तीसरी दुनिया' में ऐसे ही सामानों के फैल रहे कारोबार के काम आ रहे हैं. भयंकर गरीबी और बेकारी में जीने के रोजाना अपमान से जुझ रहे यहां के नौजवानों को ऐसे सीधे-सादे रंग, प्रतीक और नारे दूर कहीं एक अच्छी दुनिया होने की आस देते हैं. नौजवानों को इतिहास के सभी सबक भुलाकर ऐसी लुभावनी दुनिया का सपना देनेवाली 'प्रतिरोध की संस्कृति' का न्योता दिया जाता है. यह 'प्रतिरोध की संस्कृति' दरअसल नशे की संस्कृति है जिसका हिस्सा बनकर लातिन अमेरिका का नौजवान

धनी देशों के युवकों की तरह जीने की अपनी हसरत ही पूरी करता है. उद्योग प्रधान समाज के द्वारा राजनितिक-आर्थिक सच्चाइयों से पूरी तरह काट दिये गये तबके की दबी-छुपी बेचौनियों से जन्मी इस भ्रामक 'प्रतिरोध की संस्कृति' का हमारी अस्मिता और अधिकारों की लड़ाई से कोई लेना-देना नहीं है. यह तो अधिक-से-अधिक लोगों को कुछ कर दिखाने का भ्रम ही देती है. साथ ही, इस बात के लिये भी तैयार करती है कि ये दुनिया तो ऐसी ही चल रही है और सबकुछ यूं ही चलता रहेगा, कि हर आदमी अपना मालिक खुद है. यह सभी सामाजिक बंधनों और जिम्मेदारियों को नकारकर हमें आस-पास की सच्चाइयों से दूर कर देती है और होता यह है कि सबकुछ यूं ही चलता रहता है और हम अपनी ही रची इस नकली दुनिया के खयालों में खोए रह जाते हैं जो हमे बिना लड़े और तकलीफ झेले सबकुछ पाने की खुशफहमी से बांधे रखता है. सबसे अहम बात यह है कि इस नकली 'प्रतिरोध की संस्कृति' ने एक बेहतर और नयी दुनिया गढ़ने की हमारी भावनाओं और उससे निकले प्रतीकों को टी.वी. की कृपा से लगातार फैल रहे 'सुपर मार्केट' में खरीदे-बेचे जाने की चीज बना दिया है. और तो और यदि कुछ न करने की और कुछ न होने की हताशा और खीझ फ्रिज और गाड़ियों से नही खतम हो रही हो तो दबे-छुपे लेकिन लगातार चलने वाले नशे के बाजार तो हैं ही जो दिन-रात खुशियां और आशाएं बेचते हैं.

तो लोगों को झकझोरकर जगा देने और उन्हें आस-पास की सच्चाई से रू-ब-रू करने का काम कैसे किया जाए? जब दुनिया इस दौर के कठिन हालातों से रू-ब-रू है तो क्या साहित्य हमारे काम आ सकता है? संस्कृति का जो रूप सरकारें लेकर आती हैं वह तो सत्ता में बैठे चंद लोगों के लिये ही है. यह सरकारी संस्कृति बर्बर व्यवस्था को 'विकास' और 'मानवता' का चेहरा देकर लोगों को गुमराह करती और व्यवस्था का गुलाम बना देती है. ऐसे में अपनी कलम से नई दुनिया का राह बनाने वाला लेखक 'सब ठीक है' जैसे झूठे दावों पर टिकी व्यवस्था से कैसे लड़े? ऐसे समय में जब हम अपनी अलग-अलग इच्छाओं और सपनों के साथ एक-दूसरे को सिर्फ फायदे और नुकसान के नजरिये से देख-समझ और परख पा रहें हैं तब सबको साथ लेकर चलने और दुनिया की तस्वीर बदलने का ख्वाब संजोने वाले साहित्य की क्या भूमिका हो? हमारे आस-पास के हालात इतने बिगड़ चुके हैं कि लिखना और कुछ नही बल्कि एक के बाद दूसरी समस्याओं की बात करना और उनसे भिड़ना हो गया है. तब हमारा लिखना किन लोगों के खिलाफ और किनके लिये हो? लातिन अमेरिका में हम जैसे लेखकों की किस्मत और सफर बहुत हद तक बड़े सामाजिक बदलावों की जरूरत से सीधे-सीधे जुड़ा है. लिखना इस बदलाव के लिए लड़ना ही है क्योंकि यह तो तय है कि जब तक गरीबी, अशिक्षा और टी.वी तथा बाकी संचार माध्यमों के फैलते जाल पर बैठी सत्ता का राज कायम रहेगा तब तक हमारी सबसे जुड़ने और साथ लड़ने की सभी कोशिशें बेकार ही रहने वाली हैं.

जब किसानों-मजदूरों सहित आबादी के बड़े हिस्से की आजादी खत्म की जा रही है तब सिर्फ लेखकों के लिये कुछ रियायतों या सुविधाओं की बात से मैं सहमत नही हूं. व्यवस्था में बड़े बदलावों से ही हमारी आवाज एलीट महफिलों से निकल कर खुले और छिपे सभी प्रतिबंधों को भेद कर उस जनता तक पहुंचेगी जिसे हमारी जरूरत है और जिसकी लड़ाई का हिस्सा हमें बनना है. अभी के दौर में तो साहित्य को इस गुलाम समाज की आजादी की लड़ाई की उम्मीद ही बनना है.

इसी तरह, यह सोचना भी गलत होगा कि जीने के रोज के संघर्षों से जूझ रही बदहाल जनता सिर्फ साहित्य और कला के माध्यम से अपनी छिनी जा चुकी सृजन-क्षमता को दुबारा पा सकेगी. जीवन की कड़वी सच्चाइयों के मारे कितने ही प्रतिभाशाली लोग कुछ करने से पहले ही समय के अंधेरे में खो जाते है. कितने ही लेखकों और कलाकारों को तो अपने अंदर छिपी नयी दुनिया रचने-गढ़ने की अपनी ताकत का अहसास ही नही हो पाता.

दूसरी तरफ, जिन देशों की सरकारें अपने राजनीतिक-आर्थिक अस्तित्व के लिये विदेशी मालिकों पर निर्भर हैं वहां क्या सचमुच जमीनी हालातों से निकली किसी 'राष्ट्रीय संस्कृति' की संभावना है? अगर ऐसा नही है तो फिर लिखना क्यूं और किसके लिये हो क्योंकि जिस तरह अभी तक का इतिहास अपने पीछे की तमाम सारी राजनीतिक-आर्थिक प्रक्रियाओं को समेटे होता है उसी तरह संस्कृति भी जमीनी हालातों की बुनियाद पर ही बनती और बदलती रहती है. अगर हम यह मानते हैं कि सामाजिक विकास के अलग-अलग दौर में बनते-बदलते राजनीतिक-आर्थिक हालातों में कुछ नये बंधन आते हैं और कुछ पुराने पड़ चुके बंधन टूटतें हैं (जैसाकि सामंतवाद से पूंजीवाद के दौर के इंसानी सफर में सामाजिक संबंधों के बदलते रुपों में देखने को मिलता है) तब इंसानी अस्मिता दुबारा जीतने का संघर्ष छेड़ने और बढ़ाने की जरूरत का अहसास कराने में साहित्य की क्रांतिकारी भूमिका स्वीकार करनी होगी. सरकार में बैठे लोग हाशिये पर खड़ी जनता को टी.वी. और सरकारी फाइलों द्वारा परोसी जा रही सपनीली और लुभावनी दुनिया का धोखा ही परोसते हैं. ऐसे कभी न पूरे होने वाले सपने के जाल में फंसी और अपने आस-पास की सच्चाइयों से अनजान जनता आखिर बदलाव लाए भी तो कैसे? यह उम्मीद करना तो बेमानी ही होगा कि यह जनता अपने अधिकारों के लिये संघर्ष की जरूरत खुद ही समझ जायेगी. तो क्या ऐसे में लोगों को लड़ने की जरूरतों का अहसास –चाहे प्रत्यक्ष या परोक्ष- साहित्य नहीं करा सकता ? मेरी समझ से यह बहुत कुछ इस बात से भी तय होता है कि लेखक अपने लोगों की पहचान, उनके कामकाज और उनकी किस्मत को बनाने-बदलने वाले हालातों के साथ कितनी गहराई से जुडे हैं. साथ ही, साहित्य की यह भूमिका व्यवस्था द्वारा थोपी गई 'राष्ट्रीय संस्कृति' के खिलाफ जनता के संघर्षों और अरमानों को आवाज देती सच्ची 'प्रतिरोध की संस्कृति' को पहचानने और उभारने की लेखकों की छमता पर भी निर्भर है.

क्योंकि होता यह है कि ज्यादातर मौकों पर सरकारी संस्कृति के खिलाफ आकार ले रही प्रतिरोध की संस्कृति को अपसंस्कृति बताकर खारिज कर दिया जाता है क्योंकि न तो इसके पास बाजार और टी.वी. की ताकत है और न ही ये सबको सपनीली दुनिया के वादे करती है. इसे अक्सर ‘एलीट’ तबके द्वारा भोगी और व्यवस्था द्वारा थोपी जा रही संस्कृति का ही बिगड़ा रूप बताया जाता है. लेकिन, कभी-कभी आम लोगों की यादों में बसा इतिहास किसी पेशेवर लेखक के उपन्यास से कहीं ज्यादा सच बयान करता है और जिंदगी की असली सुगंध भाषा के सभी ‘नियमों’ पर खरी होने का दावा करने वाली कविताओं से ज्यादा कुछ बेनामी लोकगीतों में आबाद होती है. इसी तरह, दुख-दर्द और उम्मीदों के हजारों रंग समेटे लोगों की आपबीती ‘जनता’ के नाम पर लिखी गई किसी भी किताब से ज्यादा असरदार होती है.

हमारी असली पहचान इतिहास से जन्मती और आकार लेती है जो पत्थर पर पड़े और सुरक्षित हो चुके पैरों के निशान की तरह समय के अलग-अलग पड़ावो से होकर गुजरे हमारे सफर का गवाह बना रहा है. लेकिन, इतिहास से यह जुड़ाव पुरानी चीजों और यादों से चिपका रहना नहीं है जो बड़ी आसानी से कट्टरता का भी रूप ले सकता है. इसी तरह, यह भी तय है कि अभी तक दबी हुई पहचान कुछ खास तरह के कपड़ों, रीति-रिवाजों और चीजों से हमारे दिखावटी मोह से भी जाहिर नहीं होती. ये सब तो विकास की दौड़ में हरा और पछाड़ दिये गये देशों के बाजारों में विदेशी पर्यटकों को लुभाने के काम ही आते हैं. हम वही हैं जो हम करते हैं, खासकर हम जो हैं उसे बदलने के लिये जो कुछ करते हैं. हमारी पहचान हमारे इन्ही कामों और हमारे संघर्षों से बनती है. इसलिये पहचान की यह लड़ाई व्यवस्था के उन सभी रूपों से लोहा लेना है जो हमें सिर्फ एक आज्ञाकारी कामगार और खरीददार बनाती है. तब लेखक होने का मतलब इस चुनौती और प्रतिरोध की आवाज बनना ही है.

अपने दौर के तमाम संकटों और बदलाव की चाह को समेटे तथा सभी तरह के खतरों से भिड़ने वाला साहित्य ही नयी और बेहतर दुनिया की तस्वीर दिखा सकता है और ख्वाब देखने की हिम्मत और हुनर वाले लेखकों के जरिये वो इस दुनिया को हासिल करने का रास्ता भी दिखा सकता है. जाहिर है, अमेरिकी महाद्वीपों में फैले अन्याय और उदासी के माहौल में साहित्य का अपना एक अलग महत्व है.

किसी किताब ने लोगों को किस हद तक प्रभावित किया है यह सिर्फ उसके छपने और बिकने की संख्या से तय नही होता. कई बार सीधे-सीधे दिखने के साथ-साथ यह असर बहुत व्यापक स्तर पर देखा और समझा जा सकता है. ऐसे मौकों पर इन किताबों में दर्ज बातें अपने समय के सवालों और जरूरतों को आवाज दे सकती हैं बशर्ते लिखने वालों ने खुद के अंदर भी इन्ही सवालों और अनिश्चितताओं को महसूस किया हो. साहित्य अपने आस-पास की सच्चाइयों से रू-ब-रू किसी लेखक के अंदर आकार लेता और फिर सबके सामने आता है. इस तरह रचने-गढ़ने का यह काम सबको साथ में लेकर किया जाना है

और जरूरी नहीं है कि कोई लेखक अपने जीवनकाल में इस सामूहिक यात्रा का सफर पूरा होते देख ही पाए.

आबादी का बड़ा हिस्सा जब जीने के संघर्षों में लगा है तब कुछ लेखक 'विशिष्ट' होने का दावा करते हुए अपने लिये सुविधाओं की मांग कर रहे हैं. कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो सरकारी दमन की स्थिति में साहित्य को ही कोसते हुए सत्ता के साथ हो लेते हैं. मैं इन दोनों ही बातों के बिल्कुल खिलाफ हूं. लेखक न तो कोई भगवान होता है और न ही व्यवस्था की मर्जी का गुलाम. यह सही है कि हम आसपास की घटनाओं से प्रेरणा लेकर अपना साहित्य बुनते हैं लेकिन इसका यह मतलब भी नही कि हम अपने को सिर्फ यहीं तक सीमित रखें. देखा जाए तो लिखना एक गतिविधि ही है, यह अपने-आप में कोई जादूई चीज नही है, लेकिन जब एक लेखक हमें इस दुनिया का असली रंग देखने और बेहतर दुनिया बसाने का हौसला देने वाले लोगों और अनुभवों के साथ ला खड़ा करता है तब उसके लिखे का असर किसी जादू से कम भी नही होता. साथ ही, अगर उसका लिखा लोगों को विद्रोही और सत्ता के लिये 'अपराधी' बनाने के साथ-साथ उनकी सोच बदलता या उसे नये आयाम देता है तब वह बदलाव की लड़ाई का हिस्सा जरूर बन सकता है. संघर्षों से ऐसे सहज रूप से जुड़े लेखक अभिमान और खुद को अच्छा साबित करते रहने की होड़ में नही रहते क्योंकि वे जानते हैं कि उनका सफर औरों से अलग और ज्यादा कठिन है.

मेरे ख्याल से सिर्फ अपनी सोच और अंतहीन उलझनों को जाहिर करने के लिये शब्दों की बाजीगरी करने वालों को लिखना छोड़ देना चाहिए. शब्द तो अपने पूरे अर्थ के साथ अन्याय के ऊपर जिंदगी का जश्न मनाने वालों के लिखे में ही आकार लेते हैं. हमें पास बैठ कर बात करने वाले चाहिए, दूर बैठ तमाशा देखने वाले नहीं. हम बातचीत और मेलजोल बढाने के लिये हैं सिर्फ तालियां पाकर, बाकी सबकुछ अपनी जगह छोड़कर, खुश होने को मजबूर तमाशा दिखाने वाले नहीं. लिखना लोगों से मिलने की हमारी जरूरतें पूरी करता है, कुछ इस तरह से कि हमें पढ़ने वाले हमसे अपने जज़्बात शब्दों के जरिये साझा करें जिन्हें हम उम्मीदों और सपनों की शक्ल देकर वापस उनतक पहुचायें.

साहित्य अपने-आप सबकुछ ठीक कर देगा यह मानना खामख्याली ही होगी. लेकिन बदलाव की लड़ाई में साहित्य की भागीदारी को सिरे से खारिज करना भी सरासर बेवकूफी होगी. लिखते समय हम इस व्यवस्था से तय होती हमारी सीमाओं से अच्छी तरह वाकिफ होते हैं. सच कहें तो यही सीमायें समाज की सच्चाइयों को हमारे सामने खोलती भी हैं. हम अपनी इन्ही सीमाओं के साथ हताशा और निराशा से भरे इस दौर में व्यवस्था से भिड़ते हुए अंततः इन सीमाओं को भी ध्वस्त कर सकते हैं. ऐसे में, पढ़े-लिखे और बदलाव की जरूरत समझने वालों को 'क्रांति' का पाठ पढ़ाने वाला साहित्य परिवर्तन-विरोधी और 'जो है अच्छा है' दुहराते रहने वाले साहित्य की तरह ही कोई खास मकसद पूरा नही करता. कुछ लोगों के लिखे

में ज्यादा से ज्यादा 'रैडिकल' दिखने और 'सब जला- मिटा देने' की बातें कभी खत्म नहीं होती. उनका साहित्य एक ऐसे तबके के लिये होता है जो बदलाव के लिये पहले से ही तैयार है. खुद को बढ़-चढ़कर क्रांतिकारी बताने वाले और अपनी ही तरह सोचने- महसूस करने वाले और दिन-रात ऐसे नारों-वादों से घिरे रहने वाले गिनती के कुछ लोगों के लिये लिखने वाले क्या जोखिम उठा रहे हैं? यह तो है कि उनके लिखे की मांग कभी कम नही होगी और वे सुर्खियों में बने रहेंगे. लेकिन सिर्फ इतने से ही बदलाव की लड़ाई नही जीती जा सकती. अगर व्यवस्था द्वारा हमारे सोचने-समझने की आजादी पर लगी बंदिशे ही न खत्म कर पाए तो फिर लिखना कैसा? हमारे लिखने की सार्थकता तभी है जब हम अपनी बात बिना डरे, पक्के इरादे के साथ और बेबाकी से रख पाएं और एक बेहतर दुनिया का सपना देकर लोगों को लड़ने का हौसला दे पाएं. हमारी ख्वाहिश वो भाषा गढ़ने की है जो जनसंघर्षों से डरी और पराजित हो रही व्यवस्था की चाकरी करने वाले लेखकों की वाह-वाह और जय-जयकार के उलट कहीं ज्यादा बेखौफ और खूबसूरत हो.

लेकिन सवाल सिर्फ भाषा का ही नही है. सवाल यह भी है कि हम अपनी बात रखते कैसे हैं. प्रतिरोध की संस्कृति को अपनी बात रखने के लिये सभी मौजूद तरीके काम में लाने होंगे और संवाद के किसी भी माध्यम या अवसर को छोटा समझने की 'एलीट' सोच से बचना होगा. हमारे पास समय कम है, लड़ाई मुश्किल और करने को बहुत कुछ है. सामाजिक बदलाव के लिये लड़ रहे लोगों के लिये लिखना इस लड़ाई के बहुत सारे मोर्चों में से एक है. हम यह नही मानते कि साहित्य सिर्फ बुर्जुआ वर्ग के घरों मे शेल्फों में सजाकर रखी जाने वाली कोई चीज भर है. अखबारों में छपने वाली खबरें, लेख, विचार और फिल्में तथा रेडियो और टी.वी. के कार्यक्रमों के जरिये अनगिनत लोगों के दिलों को छू लेने वाले संवाद हमेशा ही सिर्फ गरीब और अनपढ़ जनता के समय काटने की चीजें नही हैं जैसाकि संवाद के इन सहज अवसरों को 'तुच्छ' कहकर खारिज करने वाले साहित्य जगत के मठाधीश समझते आए हैं. लोगों को सुपर मार्केट और हवाई जिंदगी की मदहोशी देकर सच से बेखबर बना देने वाले संचार माध्यमों के फैलते-कसते जाल से लड़ती-भिड़ती अपनी आवाज बुलंद करती जनवादी पत्रकारिता एक बेहतर दुनिया का सपना और हौसला देने वाली कितनी ही आवाजों के बलिदान की गवाह बनी है. अपनी रचनात्मकता और प्रभाव में यह किसी भी 'महान' और 'बेस्टसेलर' करार दिये गये उपन्यासों या कहानियों से कम नही हैं

मुझे विश्वास है अपने काम पर और शब्द के अपने हथियार पर. मैं यह कभी नही समझ पाया कि भुखमरी और बेकारी के इस दौर में साहित्य की सीमाओं की दुहाई देने वाले लोग फिर लिखते ही क्यों हैं? या फिर यह भी कि क्यों लोग शब्दों का इस्तेमाल सिर्फ अपनी भड़ास निकालने या चंद नारों या पार्टी दस्तावेजों के लिये अपनी भक्ति दिखाने के लिये करते हैं? शब्द तो एक हथियार की तरह हैं. यह हम पर

निर्भर करता है कि हम चाहें तो इससे व्यवस्था को उलट देने का हौसला दे दें या 'सबकुछ अच्छा चल रहा है' मानकर प्रकृति और ईश्वर का गुणगान करते रहें.

सच कहूं तो अभी के लातिन अमेरिकी साहित्य के लिये सबसे बड़ा काम बेहतर दुनिया की हमारी साझी समझ के खिलाफ बेधड़क और खुलेआम चल रहे सरकारीकरण और बाजारीकरण से शब्दों को बचाना है. क्योंकि आजकल 'आजादी' मेरे देश की एक जेल का नाम है और तानाशाह सरकारों ने खुद को 'लोकतंत्र' घोषित कर रखा है. अब 'प्यार' इंसान का अपनी गाड़ी से लगाव और 'क्रांति' बाजार में आए किसी नए ब्रांड के धमाकेदार प्रचार के काम आ रहे हैं. अब हमें खास और महंगे ब्रांड का साबुन रगड़ने पर 'गर्व' और फास्ट-फूड खाने पर 'खुशी' का अहसास होता है. 'शांत देश' दरअसल बेनाम कब्रों की लगातार बढते जाने वाली कतार है और 'स्वस्थ' इंसान वह है जो सबकुछ देखता है और चुप रहता है.

घोषित-अघोषित राज्य दमन और पुलिसिया आतंक के बावजूद हम लिखते हुए अपने समय और लोगों को नई पहचान और आवाज दे सकते हैं. आज के दौर में लिखना यह कहना भी है कि हम यहां हैं और यहीं के हैं, हम ऐसे हैं और ऐसे ही रहे हैं.

धीरे-धीरे लातिन अमेरिका में एक नए तरह का साहित्य आकार ले रहा है. ऐसा साहित्य जो लोगों को सबकुछ खत्म हो चुकने की उदासी नही बल्कि कुछ नया करने की ताकत दे रहा है. यह मार दिये गये हमारे लोगों को इतिहास में दफन नही करता बल्कि उन्हें हमारे सामने ला खड़ा करता है, यह सबकुछ भुल जाना नही बल्कि इतिहास के पन्नों से बदलाव की हमारी साझा लड़ाई की वजहें और जरूरतें ढूंढना सिखाता है. यही साहित्य लड़ने की हमारी परंपरा और उसकी गवाह रहे अनगिनत लोकगीतों और कहानियों में गूंज रहे शब्दों का सच्चा साथी और पहरूआ है. अगर हम यह मानते हैं कि इतिहास सिर्फ यादें खरोंचने से कहीं ज्यादा उम्मीद जगाने की कोई चीज है तो यह उभरता हुआ साहित्य उन तमाम सारे लोगों को हाथ दे सकेगा जो आज नही तो कल किसी भी तरह से उलटबांसियों से भरे हमारे इतिहास को बदल देने वाले हैं.

Translated by **P. Kumar Mangalam**

Email - pkmangalam@gmail.com

समयान्तर, अक्टूबर 2011 में पृष्ठ 39-43 पर 'लिखने के लिए' शीर्षक से प्रकाशित

The Translator has given his kind consent to produce this article on the website.